SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

कला, साहित्य और संस्कृति में आदिवासी जन–जीवन की भूमिका

वंदना चौबे, Ph.D., हिन्दी विभाग
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
वंदना चौबे, Ph.D.

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 03/08/2023
Revised on : -----
Accepted on : 11/08/2023
Plagiarism : 10% on 03/08/2023

शोध सार

आदिवासियों को व्यवस्था और सरकारें अति–पिछड़े समुदायों की गिनती में रखती हैं वह चाहे दस्तावेज हों या व्यवहारिक जीवन–सिद्धांत की कसौटी हो। आज आदिवासी साहित्य हमारी सांस्कृतिक परम्परा का जरूरी हिस्सा है. बावजूद इसके नगरीकरण की हवस ने आदिवासी जीवन को बहुत नष्ट किया है। उन्हीं की बनाई हुई चीजों से शहर आबाद हो रहे है, लेकिन आदिवासी आज भी बुनियादी अधिकारों क लिए संघर्षरत हैं। ध्यातव्य है की मुख्यधारा का साहित्य, कला और संस्कृति भी लम्बे समय से आदिवासी जीवन–दर्शन से विमुख रही है बल्कि हिकारत भरी भी रही है। प्रस्तुत शोध–आलेख कला और साहित्य में आदिवासी संस्कृति की पहचान को रेखांकित करता है।

मुख्य शब्द

आदिवासी, संस्कृति, साहित्य, कला.

प्रस्तावना

फणीश्वर नाथ रेणु पर एक महत्वपूर्ण आलेख में कथाकार रणेन्द्र अनेक उदाहरणो से यह रेखांकित करते हैं कि किस तरह सभ्यता के अवचेतन में हम अपने ही जैसे मनुष्य को 'अन्य' कि श्रेणी मे लाकर न सिर्फ खड़ा कर देते हैं बल्कि उसके साथ अमानवीय व्यवहार को भी तार्किक साबित करते हैं। डेविड लिविंगस्टोनस्मिथ के हवाले से वे कहते हैं कि 'लगभग सारी संस्कृतियों में अपने समूह के अतिरिक्त 'अन्य' समूहों को कमतर इंसान, अवमानव (Subhuman) मानने का एक एथ्नोसेंट्रिक सामाजिक मनोविज्ञान विद्यमान रह है। युद्ध, जातीय नस्लीय, धर्मी –लैंगिक हिंसा, नरसंहार, दास–व्यापार आदि के क्रम मे मानव–हिंसा के प्रति मनोदैहिक अपराध–बोध से उबरने के लिए अन्य अवमानव की अमानवीयकारण प्रक्रिया सदियों से चलती आ रही है'

ऐसे अनेक महत्वपूर्ण तर्कों और दस्तावेजों के आधार पर वे बताते हैं कि रेणु जैसा संवेदनशील और दूरदर्शी साहित्यकार भी अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में संथाल आदिवासी नरसंहार पर न केवल चुप रहता है, बल्कि अनेक प्रकार से आदिवासी समुदायों को कमतर नस्ल कि तरह प्रस्तुत भी करते हैं। वे उनके समूहिक नृत्य को 'झुंड नाच' कहकर उसको नकार देते हैं। कई बार जातीय वर्चस्व और राजनीति यह साजिशन करती है, तो कई बार यह हमारे समूहिक अवचेतना का हिस्सा भी होता है जिसके कारण हमे अनुभूत भी नहीं होता कि अमानवीय व्यवहार हमरी ही तरह किसी मनुष्य के साथ हो रहा है। तमाम गेजेटियरों के प्रमाण के साथ कहते हैं–'1963 मे प्रकाशित पी. सी. रायचौधरी लिखित पूर्णिया गेजेटियर में पृष्ठ 106 से 108 तक में अगस्त क्रांति का तिथिवार ब्योरा दिया गया है। 25 अगस्त 1942 को धमदाहा थाना पर धातुरानंद और दुल्ला टुड्डु के नेतृत्व मे 25 हजार संथालों के साथ अन्य ग्रामीणों का जुटान, तिरंगा झण्डा का फहराया जाना और बालूच सैन्य टुकड़ी द्वारा फायरिंग किए जाने का विवरण है। गैर सरकारी आंकड़े के अनुसार 45 आंदोलनकारी शहीद हुए किन्तु सरकारी आंकड़ों मे 14 शहीद सूचीबद्ध हैं और उनमे एक भी नाम संथालों का नहीं है।' इन प्रमाणों के आधार पर रेणु के समय का पूर्णिया जिला मैला आँचल मे किस तरह आता है, यह रेणु के दृष्टिकोण से मालूम पड़ता है –

आश्चर्य यह है कि कथागायक (रेणु) ने दलित–कारीगर समुदायों के चरित्रों, उनके साथ होने वाले संरचनात्मक अदृश्य हिंसा को पूरी संवेदनशीलता के साथ उकेरा हो, उसी कथाकार कि दृष्टि आदिवासी चरित्रों के संबंध में एकदम खाँटी मुख्यधारा जैसी 'अन्य' और subhuman मानने वाली हो जाती है।'

हमने देखा कि किस तरह हमारे सबसे बड़े साहित्यकार से भी प्रत्यक्ष हिंसा इसलिए निरर्थक हो जाती है क्योंकि हमारे भीतर वर्ण, जाति, समुदायगत श्रेष्ठताबोध के कारण समझ और दृष्टि की तार्किक समग्रता नहीं बन पाती। आशय यह है कि हमारे साहित्य, कलाओं और सभ्यता–संस्कृतियों में श्रेष्ठताबोध की जो आत्ममुग्धता और आत्मग्रस्तता है उसने हमारी मानवीयता, करुणा आदि की परिभाषा उलट दी है। हमारे सामूहिक अवचेतन में वर्चस्व की बर्बरता इस तरह शामिल है कि दृष्टिगत आमनवीयता को भी हम सही और तार्किक साबित कर सकते हैं।

चेतन–अवचेतन की इन्हीं मानसिकताओं के कारण हम आदिवासियों को सभ्य बनाने चलते हैं। संघ परिवार इन्हें इनके मूल निवास से काटकर वनवासी कहता है और मानता है कि ये बर्बर–असभ्य जातियां जिन्हें धर्म–कर्म आदि का बोध नहीं तो इसमें इनकी क्या गलती! हम इन्हें सभ्य और धार्मिक बनाएंगे।

यूरोपीय समाज की अवधारणा में सेवेज शब्द जिसे सैद्धान्तिक रूप से ट्राइबल करार दिया गया। प्रकृति पर निर्भर, सभ्य–समाज से विलग कुछ प्रजातियां। इन सभी नामों और अवधारणाओं के पीछे अपनी– अपनी राजनीति है। दरअसल इस सभ्य बनाने वाली सभ्यता में वर्चस्व की राजनीति बेहद महीन औजारों के साथ काम करती है। इन्हीं हथियारों के सहारे सभ्यताओं के बनने की प्रक्रिया हमने भरसक असभ्यताएँ विकसित कर डाली हैं। सामंती समाज के बाद पूँजीवादी समाज बहुत रंग–रोगन, खतरनाक और बनावटी लोकतंत्र के साथ इस तरह का तंत्र रचने में कामयाब हो रहा है, जिसमें दलित और आदिवासी जन भी अपनी मौलिक जमीन छोड़कर उस बहाव–भटकाव में उलझ गया है। इन सब के बीच सबसे अस्थिर, अविश्वसनीय और ढुलमुल रवैया मध्यवर्गीय मानस का हुआ है। उच्च वर्गीय अकर्मण्य पूंजीवादी वर्ग तो अपनी स्थिति में स्पष्ट रहता है, लेकिन आदि–जन के प्रति और निचलेपन की भावना प्रसार सर्वाधिक तरीकों से मध्य वर्ग करता रहा है।

मार्च 2006 में जब सरकार ने आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा की थी, तब पढ़े–लिखे कैरियारिस्ट युवाओं ने कैसी प्रतिक्रिया दी थी, इसकी पड़ताल हमारे समय के प्रखर विचारक काँचा आइलैया अपनी किताब हमारे समय मे श्रम की गरिमा में तार्किकता से करते हैं:–

सुविधा सम्पन्न जातियों के उन विद्यार्थियों ने रैली कीं और धरने दिए जो केंद्रीय संस्थानों में चिकित्सा, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों में इंजीनियरिंग और भारतीय प्रबंधन संस्थानों में प्रबंधन पाठ्यक्रम की पढ़ाई कर रहे थे। यह अपने आप मे कोई समस्या नहीं थी। अटपटी और विचलित करने वाली बात यह थी कि उन्होंने विरोध के रूप में सड़कों पर झाड़ू लगाना, जूते पॉलिश करना और सब्जियां बेचना शुरू कर दिया। उन्होंने इस वैश्वीकृत युग मे ऐसा

किया पर निश्चित ही उन्होंने न तो जूते बनाए, न सड़को पर बैठकर बर्तन बनाए और न ही झाड़ूएँ बनायीं। वे जूते, बर्तन या झाड़ू बनाने में असमर्थ हैं, न ही उन्होंने पशुओं की लाशें हटाई जो उस दौरान दिल्ली में मरे होंगे।

स्वांग की तरह सड़कों पर झाड़ू लगाने, जूते पॉलिश करने और सब्जियां बेचने जैसे सांकेतिक कामों का आश्रय लेके छात्र इस तथ्य को प्रदर्शित कर रहे थे कि वे श्रम को गरिमापूर्ण नहीं मानते। उनका भय झलका कि एक दिन उन्हें झाड़ू लगानी पड़ेगी, जूते चमकाने पड़ेंगे, बर्तन बनाने पड़ेंगे। उन्हें जबरन ऐसे काम करने पड़ेंगे जिन्हें वे गहरी हिकारत से देखते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि धर्म आधारित बनी हुई तथाकथित सभ्यता हमें असभ्यता के किस कगार पर ले आई है। जाति और वर्गगत असमानता श्रम के प्रति घृणा की भावना पैदा कर रही है। अब पूंजीवाद उसमें और बारीक काम कर रहा है।

दूसरी ओर यह भी गौरतलब है कि पूंजीवाद की पैदाइश इस समाज खासतौर पर मध्यवर्ग ही सबसे ज्यादा ऑर्गेनिक भोजन, आदिम सभ्यता के प्रति खोखले मोह और जंगल जीवन को एडवेंचरस बनाने जैसे नकली उपक्रम में भी लगा हुआ है।

दरअसल तथाकथित जिस सभ्यता–संस्कृति की तहें हमने आज तक बनाई हैं, आज हम उस दुश्चक्र में बेहद बारीक ढंग से हम फंस गए हैं। धरती और दुनिया को बचाना है तो हमें आदिवासी जीवन को समझना होगा। उन्हें खुद के दुष्चक्र में शामिल न करके हमें उसमे शामिल होना होगा। मार्क्स का आदिम साम्यवाद भले ही दूसरे स्वरूप का होगा, लेकिन उसकी बुनियाद इन्हीं आदिम आदिवासी जीवन की तरह का होगा।

अपनी एक कविता में मुक्तिबोध कहते हैं–

हम आदिवासी जन बहुत बहुत अनुभवी
अनेकविध फल चखकर बार बार
हमने ही दुनिया में प्रथम बार
खाद्य–अखाद्य सब ठहराया
मनुष्य का भोजन निश्चित किया
हम आदि वैज्ञानिक!"

कांचा आइलैया बताते हैं कि आदिवासी आज भी लगभग 10, 000 वन्य–पौधों की प्रजातियों के प्रयोग करते हैं जिनका उपयोग औषधि, कीटनाशक, सौंदर्य–प्रसाधन और रंगाई आदि अनेक कामों के लिए होता है।

हमारी सभ्यता उन आदिवासियों को भूल चुकी है जिनके अदम्य साहस और बलिदान से देश की आजादी और विकास संभव हुआ।

हमारे ये आदि–जन अपने साहस, बुद्धि और अनुभव के आधार पर खाद्य–अखाद्य की जाने कितनी चीजे बता गए हैं, लेकिन उनका यह सब बुनियादी उद्यम ताकतवर और ताकत के बल पर बना पढ़ा–लिखा बुद्धिजीवी समूह अपने खाते में डाल लें रहा है।

सरदार सरोवर परियोजना के विस्थापित एक आदिवासी को याद करते हुए प्रख्यात चिंतक और लेखक अरुंधति रॉय कहती हैं– वह मेरे लिए उन फलों की सूची बना रहा था जिन्हें वह जंगल से इकट्ठा किया करता था। उसने 48 प्रकार गिनाए, उसने मुझसे कहा कि उसे भरोसा नहीं था कि वह या उसके बच्चे फिर कभी कोई फल खा पाएँगे।

इस तरह अनेक ऐसे काम और पेशे हैं जिन्हें हमने किया नहीं लेकिन अपने या अपने समुदायों के नाम कर विज्ञापित करते रहे हैं, दरअसल यह आदिवासियों की देन है। देश का 90 प्रतिशत उद्योग बुनियादी तैर पर आदिवासियों के श्रम के आधार पर चल रहा है।

आदिवासियों की जमीन खरबों के खनिज दबे हुए हैं! उनके जंगलों में कीमती वन्य जीव कहैं कुलांचे भर रहे हैं!

दुनिया की सरकार पोषित पूंजीवादी ताकतों खनन माफियाओं की गहरी घात लम्बे समय से उनके जल,

जंगल, जमीन पर लगी हुई है।

सरकारें आदिवासियों का धार्मिककरण कर और उन्हें बाजार और सभ्यता के चमकीले लोभ–लालच देकर उनका ध्रुवीकरण करती है। विभिन्न आदिवासी समूहों को आपस मे लड़वाकर उनकी सामूहिकता को विभाजित करती है और इस तरह उन्हें कॉरपोरेट परस्ती की ओर धकेल देती है। वन्य–संरक्षण और पर्यावरण चिंता के नाम पर सरकारें और कॉरपोरेट आदिवासियों के जंगलों को अपनी गिरफ्त में लेकर फॉरेस्ट सेंचुरी और नेशनल पार्क बनवा कर मोटी कमाई करते हैं और माफिया विकसित करते हैं। इसके बावजूद आदिवासियों को जंगल और पर्यावरण का दुश्मन बताकर उन्हें खदेड़ते हैं। उनके इलाकों में पुलिस और अधिकारी बिठाकर जघन्य अपराध किए जा रहे हैं।

धार्मिक कट्टरपंथी आदिवासियों को मूल निवासी न समझकर वनवासी कहते हैं और ये मानते हैं कि आदिवासी जंगल मे रहने वाले बर्बर, असभ्य लोग हैं! यदि उनमें धर्म–कर्म और सभ्यता–शिक्षा का बोध नहीं तो यह हमारा काम है कि हम उन्हें सभ्य बनाएं।सभ्य बनाने की इसी प्रक्रिया का परिणाम था कि एक समय पर उड़ीसा में दलितों और आदिवासियों के बीच सीधा टकराव हुआ, विश्व हिन्दू परिषद के इसाई विरोध मुहिम में बड़ी संख्या में आदिवासियों भूमिका निभाई और गुजरात दंगों में आदिवासियों की ऐसी भूमिकाएं सामने आईं। आगे चलकर अयोध्या के लिए भी उन्हें लामबंद किया गया। प्रचार यह भी किया गया कि आदिवासी भटके हुए पीछे रह गए हिन्दू हैं। यह लामबंदी इतनी खतरनाक है कि 1987 में पहली बार आदिवासियों और मुसलमानों के बीच हमले भी होने लगे। हालांकि पंचमहल हमले में बाद में यह भी साबित हुआ कि आदिवासियों को धन और बाजारू चीजों का लोभ देकर भड़का कर लामबंद किया गया था।

इस तरह की राजनैतिक लामबंदी दलितों के बाद बड़ी संख्या में आदिवासियों की ही हो रही है। वनवासी कल्याण आश्रमों की बड़ी संख्या में स्थापना हुई।

उन्हें सभ्य बनाने के नाम पर आजादी के बाद से और विशेष रूप से उदारीकरण के बाद जो स्थितियां बनी वह सामने है, हालांकि हम उससे लगातार आँखें चुराते हुए आदिवासियों को और आजादी के नायकों में कहीं–कहीं शुमार कर लोकतंत्र और समता आदि पर अनेक विमर्श कर रहे हैं।

हमारे इस सभ्य समाज की स्थिति आज यह हो चली है कि गौमांस के शक होने पर हम मनुष्य की जान तुरंत लेने पर उतारू हैं। देश मे ऐसे साम्प्रदायिक कट्टरता की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। ऐसे में हमें आदिवासियों से सीखना चाहिए कि बिल्कुल विपरीत आचार–विचार वाले जन के साथ सामूहिकता का विकास कैसे होता है।

आलोचक वीरभारत तलवार कहते हैं– मुंडा आदिवासियों में एक गोत्र है–तोपनो। इसका टोटम है, जंगल के पेड़ों पर लाल–लाल चूंटे रहते हैं, जो सफेद अंडा देते हैं। मुंडारी भाषा मे इसी चूंटे को हऊ कहते हैं, इसे खाया जाता है लेकिन तोपनो गोत्र के मुंडाओं के लिए यह पवित्र है, उनके वंश की उत्पत्ति इसी से हुई है इसलिए तोपनो मुंडा हऊ नहीं खाते, जबकि दूसरे मुंडा खाते हैं और तोपनो मुंडाओं के सामने ही खाते हैं। इस पर तोपनो मुंडा अपने पवित्र माता–पिता की रक्षा के लिए उनसे दंगा नहीं करते।

प्रसिद्ध युवा कवि अनुज लुगुन अपने एक साक्षात्कार में बताते हैं कि आदिवासियों के यहाँ किसी बात का प्रतिवाद या विरोध बहुत रचनात्मक होता है। वे विरोध भी नृत्य और संगीत के साथ करते हैं।

आदिवासी जीवन मे नृत्य मुक्ति का एक रचनात्मक रूप है। नृत्य उनके जीवन सर्वाधिक अंतरग हिस्सा है। अफ्रीकी जनजातियों के लिए इस बात को रेखांकन किया जाता है कि वे अपनी जरूरत के लिए सामान्यतः किसी पेड़ को नहीं काटते, बल्कि उस पेड़ के इर्द गिर्द सामूहिक रूप से नाचते–गाते हुए कुछ अपशब्द कहते हैं और पेड़ कमजोर होता जाता है। इस तरह नृत्य संगीत उनके जीवन के हर हिस्से से जुड़ा हुआ है। आदिवासी अपने शोषण के विरुद्ध जो प्रतिरोध करता है उसे चित्र बनाकर भी दर्शाता है। सभ्य समाज आज जिसे शास्त्रीय चित्रकारी कहकर उसे कुछ विशेष लोगों तक सीमित रखता है आदिवासी उसे सामूहिक करते हैं। वे समूह मे चित्र बनाकर अपनी बात कहते हैं। वे धान ओसाते किसान और उसकी पत्नी, बांस कि टोकरी बनाती अमुदाय की अनेक स्त्रियों के चित्र बनाते हैं और कोरस मे स्त्रियाँ गीत गाती हैं:–

'आरिंग कवाय मंडी की
हिराबरा कोय माय गो नागपुरी
इंदर गे आईसन सोना नागपुर
किराबरा हो नागपुरिया'

कहूँ लेगी सरकार मुख से हियाँ जयसन सुविधा कहीं नय मिली। कहाँ जाब आपन घर जमीन छोडय" आदिवासी जीवन के सच्चे चित्रकार रामकिंकर बैज ने कितने ही सजीव दृश्य–प्रतिरोधों से हमें परिचित कराया है। उनके चित्रों को बारीकी से देखकर हम इस अशांत, असंवेदनशील और अस्थिर होती दुनिया को नए सिरे से रचने की प्रेरणा पा सकते हैं, क्योंकि उन्होने आदिम मानुषी की लय और गति को अपने चित्रों में उकेरा है।

इसी तरह नृत्य भी आदिवासी जीवन के सुख–दुख का महत्वपूर्ण हिस्सा है। सुविधाभोगी जीवन में हम डांस–बार और क्लबों मे नृत्य करके तनाव मुक्त होने के जो भ्रम बनाते हैं, वह सिर्फ अघाए और भरे– पेटों का कर्मकांड है। नृत्य को जीवन–दर्शन और सुक–दुख से जोड़ने की रवायत और मुद्रा आदिवासी लोक–नृत्य मे मौजूद है। यही सुविधाभोगी उच्च्वर्गीय मध्यवर्गीय लोग आदिवासियों के नृत्यों, परिधानों और नुक्कड़–तमाशों को कमतरी और मनोरंजक दृष्टि से देखते थे। प्रसिद्ध संथाली कवि निर्मला पुतुल अपनी एक कविता 'घड़ा उतार तमाशा के विरुद्ध' मे कहती हैं–

सरेआम बार–बार गिरते चढ़ते
कभी सोचा है तुमने
तमाशाइयों कि हँसती भीड़ के बारे में?
देखा है अगली पंक्ति में बैठ
खिलखिलाकर हँसते अपने रहनुमाओं को?
पहचाना है उसमे मदारियों के चेहरे?
जान पाये आज तक उनकी हंसी का राज?
खेल के नाम पर दिखाये जा रहे तमाशे का इतिहास?
समझ पाये अब तक उसका गणित?
वे तुम्हारी बहदुरी पर नहीं जंगलीपन पर हंस रहे हैं ढेपचा सोरेन
हंस रहे हैं तुम्हारी नादानी और मूर्खता पर
जैसे बंदरों की जमात में रोटी का टुकड़ा फेंक
तमाशा देख हँसते हैं लोग'

आत्मबद्ध इस सभ्यता को आदिवासियो से प्रकृति की आदिम लय और श्रम सीखना चाहिए। कलाओं का उद्‌गम प्रकृति के इन्हीं रहस्यों में है।

प्रख्यात नृत्यांगना इजाडोरा डंकन अपने नृत्य के विषय मे कहती हैं कि उन्होंने नृत्य किसी से नहीं सीखा। जो भी सीखा प्रकृति से सीखा। नदियों की लहरों, पत्तों सरसराहटों और वृक्षों की झूम देखकर उनकी देह में लय और गति पैदा होती थी। वे मानती हैं कि नृत्य सीखा ही नहीं जा सकता है, वह बस आता है। विद्रोही मीरा भी अपने नृत्य के माध्यम से राजपूताने शौर्य को चुनौती देती हैं। नृत्य और प्रेम के कारण ही समाज ने मीरा को बिगरी नारी कहा और उनकी हत्या की। भयावह पूंजीवादी संकट के दौर में सबसे भीतर तक प्रभावित है हमारा सांस्कृतिक–बोध। पूंजीवाद ने हमारे अवचेतन तक इस तरह नियंत्रित किया है कि सामूहिक भाव–बोध का अनुमान तक नहीं लग पा रहा है। यह संकट अभी अपने चरम पर जाना बाकी है।

मार्क्स ने निजी संपत्ति की जिस अवधारणा को हमारे सामने रखा वह बाहरी जीवन तक ही नहीं भावनात्मक स्तर की गहरी तहों तक हमारे भीतर पैठ गया है। पृथ्वी के संसाधन कुछ ताकतवर लोगों की ओर एकाग्र हैं और वे मुनाफे के लिए जमकर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कर रहे हैं। मानविकी और विज्ञान जैसे अनुशासन भी

मुनाफाखोरों के नियंत्रण में है। वैज्ञानिक खोजें उन्हीं के लाभ को दो–गुना, चौगुना करने का साधन बनते जा रहे हैं। ऐसे में सामूहिक जीवन शैली की परंपरा कहीं है तो वह आदिवासी जीवन–जगत में ही बची हुई है।

मार्क्स कहते हैं कि धरती के पास सीमित संसाधन हैं लेकिन इतने हैं कि जीवित जनों के लिए पर्याप्त हैं लेकिन पूंजी आधारित मुनाफे पर बनती हुई दुनिया संसाधनों की असमानता बनाकर मनुष्य के मनुष्य के बीच अनेक फांक पैदा कर रही है। हमारा जीवन शुरू से ही सामूहिकता पर आधारित था। पूंजी ने निजी संपत्ति को जीवन की सफलता–सार्थकता में बदलकर हमारे मूल रूप को ही समाप्त कर दिया है। पारंपरिक आदिवासी चेतना में संपत्ति पर सामूहिक अधिकार स्त्री–पुरुष समानता और जनतांत्रिक बोध पर आधारित है। अपनी सामुदायिक शक्तियों के कारण ही आदिवासी समाज पूंजीवाद के लिए सबसे बड़ा संकट है। वे इसे अपनी पद्धति में ढाल कर बाजार अनुरूप बनाकर इनका दोहन करते हैं या इनका दमन करके!

आधुनिक ताकतें आदिवासी समाज की उलगुलानी एकजुटता और साहस से भी परिचित हैं। दयामनी बरला आदिवासी स्त्रियों के संघर्ष पर लिखती हैं– इन आदिवासी विद्रोहों का झंडा झुका नहीं, क्योंकि आदिवासी महिलाएँ पीठ पर बच्चा बांधकर, हथियारों से लैस होकर पुरुषों का साथ दे रही थीं। उरांवों के इतिहास में सिनगी दाई एवं कोइलीदाई, संथाल हूल में फूलो–झानो, बिरसा उलगुलान में मांकी मुंडा तथा जतरा टाना भगतों के संघर्ष बंधनी (देवमनी) ने अंग्रेजों के खिलाफ गौरवपूर्ण इतिहास बनाया। जाति और लिंग की असमानता हमारे समाज के कट्टरपंथ की उपज है जो सामंती समाज मे तो थी ही, लेकिन आधुनिक समाज में और बारीक रूप में उभरी है।

वर्चस्वशाली समाज इतिहास और संस्कृति दोनों से छेड़छाड़ करता है। ब्राह्मण और वैष्णव समुदायों ने समूचे मध्यकालीन सूफी–संत और बुद्ध तक को अपने रंग में रंगकर पेश किया है ठीक उसी प्रकार अंग्रेजों से पहले आदिवासी संस्कृति को भी वैष्णवी रंग लगा दिया गया था, रही–सही कसर अंग्रेजों ने पूरी कर दी।इसका प्रभाव यह हुआ कि आदिवासी समुदाय में भी लिंग और धर्म आधारित असमानता और कट्टरता पनपी है।

प्रख्यात कवि निर्मला पुतुल लिखती हैं– "संबल औरतों के लिए वर्जनाएं और बंदिशें बहुत हैं। वह खेतों में हल नहीं चला सकतीं चाहे लाख खेती बिगड़ जाए। अगर हल छू लें धरती पलट जाएगी। मांझी हाड़ाम की पगड़ी गिर जाएगी। फिर सजोनी किस्कू की तरह हल में बैल बनाकर उसे जोता जा सकता है, खूंटे में बांधकर पुवाल और भूंसा खिलाया जा सकता है। इस तरह कठोर दंड विधान हैं उसके लिए। इस समाज मे हल की तरह तीर–धनुष छूना भी उसके लिए अपराध है। पहले भी और अब और अधिक आदिवासी समाज तेजी से बदला है और अपनी सामूहिकता– सामुदायिकता से दूर हुआ है। वर्ग–विहीन समाज भी वहां ऐसा नहीं रह है जैसा आदिवासी विमर्श के सम्मोहन में कहा जा रहा है।

निर्मला जी लिखती हैं– "जमीन सहित समस्त प्राकृतिक साधनों पर सामूहिक स्वामित्व की बात भी पूरी तरह सच नहीं है। पहले कभी रहा होगा लेकिन अब यह बीते जमाने की बात है जब खतियाना बना, सरकार को मालगुजारी दी जाने लगी तो खतियान में नाम पुरुषों का चढ़ा। अगर किसी लड़की के पिता वृद्ध हैं और उसे कुंवारी छोड़कर मर जाते हैं तो संपत्ति हड़पने की साजिश में इस अविवाहित लड़की पर कुछ न कुछ आरोप लगाकर उसे गांव से खदेड़ दिया जाता है।" अब एक समूची धरती के निर्माण के लिए हमें आदि जन–जीवन कि ओर लौटना ही पड़ेगा।

अनुज लुगुन के शब्दों में–

"वे जो सुविधाभोगी है
या मौका परस्त हैं
या जिन्हें आरक्षण चाहिए
कहते हैं हम आदिवासी हैं,
वे जो वोट चाहते हैं

कहते हैं तुम आदिवासी हो,
वे जो धर्म प्रचारक हैं
कहते हैं
तुम आदिवासी जंगली हो।
वे जिनकी मानसिकता यह है
कि हम ही आदि निवासी हैं
कहते हैं तुम वनवासी हो,
और वे जो नंगे पैर
चुपचाप चले जाते हैं जंगली पगडंडियों में
कभी नहीं कहते कि
हम आदिवासी हैं
वे जानते हैं जंगली जड़ी–बूटियों से
अपना इलाज करना
वे जानते हैं जंतुओं की हरकतों से
मौसम का मिजाज समझना
सारे पेड़–पौधे, पर्वत–पहाड़
नदी–झरने जानते हैं
कि वे कौन हैं।"

निष्कर्ष

निष्कर्षतः अनेक उदाहरणों से साबित होता है कि कथित सभ्य समाज जो पूंजीवादी संकटों से लगातार घिरता ही जा रहा है। ऐसे समाज के लिए भविष्य का एक आदिम मौलिक आईना आदिवासी समाज ही दे सकता है। अनेक वैज्ञानिक यह मानते हैं कि आदिवासियों के जन–जीवन से प्रेरित और सीखकर उनके अनेक आविष्कारों का जन्म हुआ। इन तथ्यों कि अनदेखी कर मुख्यधारा कि सुविधाभोगी पीढ़ी संसाधनों के उपभोग को विकास समझती है और दूसरी ओर पर्यावरण संरक्षण के खोखले अभियान चलाती है। आदिवासियों की खोजों, उनकी शैली और जन–जीवन को अपने खांचे मे डालकर उनका दोहन करती है। अब आदिवासी जीवन से जुडी चीजों की मात्र प्रदर्शनी की बजाय उनके बिच रहकर उन्हें उत्पादन से जोड़ने का काम मुख्य काम होना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. हमारे समय में श्रम की गरिमा– कांचा आइलैया (अंग्रेजी से अनुवादः भरत त्रिपाठी)
2. आदिवासी साहित्यः परंपरा और प्रयोजन– वन्दना टेटे
3. गुंडा धुर की तलाश में– नन्दिनी सुंदर
4. जंगल के दावेदार –महाश्वेता देवी
5. आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल –डॉ. रामदयाल मुंडा
6. समकालीन जनमत –दिसम्बर 2009, वन अधिकार कानून और आदिवासी–जंगलराज के हवाले
7. समकालीन जनमत– सितम्बर 2003, आदिवासीः मिथ और यथार्थ
8. रेणु का कथा–गायनः सौंदर्य और सीमाएं दृरणेन्द्र, पहली बार ब्लॉग

****